जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान

बौद्धदर्शनमें वर्णित प्रत्यक्ष और जैनदर्शनमें वर्णित दर्शनोपयोग दोनोंके स्वरूपमें करीब-करीब साम्य पाया जाता है। लेकिन बौद्धदर्शनमें जहाँ उसके माने हुए प्रत्यक्षको प्रमाण मान लिया गया है वहाँ जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगको प्रमाणता और अप्रमाणताके दायरेसे परे रखा गया है, क्योंकि जैनदर्शनमें स्वपरव्यवसायीको प्रमाण माना गया है और जो व्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नहीं है उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनों प्रकारकी अवस्थाएँ ज्ञानोपयोगकी ही हुआ करती हैं, अतः ज्ञानोपयोग तो प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है लेकिन दर्शनोपयोगमें स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है, अतः उसे न तो प्रमाण कह सकते हैं और न अप्रमाण ही कह सकते हैं। फिर भी ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमें अनिवार्य कारण होनेकी वजहसे दर्शनोपयोगका महत्त्व जैनदर्शनमें कम नहीं आँका गया है।

विश्वको जैनर्शनमें छह प्रकारके द्रव्योंमें विभक्त कर दिया गया है—(१) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले अनन्त जीव द्रव्य, (२) अणु और स्कन्ध (पिंड) दो भेदरूप अनन्त पुद्गलद्रव्य, (३) एक धर्मद्रव्य, (४) एक अधर्मद्रव्य, (५) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले असंख्यात कालद्रव्य और (६) एक आकाशद्रव्य। इन सब द्रव्योंको समुदायरूपसे विश्व नामसे पुकारा जाता है क्योंकि इनके अतिरिक्त विश्वमें कुछ शेष नहीं रह जाता है और विश्वको जगत् इसलिये कहते हैं क्योंकि ये सब अपने-अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए परिणमनशील हैं। ये सब द्रव्य प्रतिसमय अपने-अपने नियत स्वभावके अनुरूप कार्य करते रहते हैं—आकाशद्रव्य समस्त द्रव्योंको सतत अपने अन्दर समाये हुए हैं, सभी कालद्रव्य समस्त द्रव्योंको प्रतिक्षण उनकी अपनी संभाव्य पर्यायोंके रूपमें पलटाते रहते हैं, धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गल द्रव्योंको हलन-चलनरूप क्रिया करते समय उस क्रियामें सतत सहायक होता रहता है, अधर्मद्रव्य उन सभी जीव और पुद्गल द्रव्योंको उक्त हलन-चलनरूप क्रियाको बन्द करते समय उसमें सतत सहायक होता रहता है, सभी पुद्गल द्रव्य अशुद्ध जीवद्रव्योंके साथ और परस्पर एक दूसरे पुद्गलद्रव्योंके साथ सतत मिलते और बिछुड़ते रहते हैं तथा सभी जीवद्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंको अपनी-अपनी योग्यताके विकासके अनुसार सर्वदा देखते और जानते रहते हैं। जीवोंकी इस देखनेरूप प्रवृत्तिको ही जैनागममें दर्शनोपयोग और जाननेरूप प्रवृत्तिको ज्ञानोपयोग कहा गया है। इन दोनों उपयोगोंमें अविनाभावरूप संबन्ध पाया जाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थके ज्ञानमें उस पदार्थका दर्शन कारण हुआ करता है। इसालिये प्रत्येक जीवमें ज्ञानोपयोगके साथ दर्शनोपयोगकी सत्ता जैनदर्शनमें स्वीकार की गयी है। परन्तु साथ ही आगमग्रन्थोंमें यह बात भी बतलायी गयी है कि सर्वज्ञजीवके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों एक साथ होते रहते हैं और अल्पज्ञजीवके दर्शनोपयोगके अनन्तर ज्ञानोपयोग हुआ करता है अर्थात् उसके दर्शनोपयोगकी दशामें ज्ञानोपयोग उत्पन्न नहीं होता है और ज्ञानोपयोगकी दशामें दर्शनोपयोग समाप्त हो जाता है।

बहुत कुछ सोचनेके बाद मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोंके भी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोंकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति होनी चाहिये, अन्यथा दोनोंमें कार्यकारणभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि कारणके सद्भावमें ही कार्य हुआ करता है कारणके अभावमें नहीं, इसलिये "अल्पज्ञजोवके दर्शनके अनन्तर ज्ञान होता है" यह कल्पना अर्वाचीन जान पड़ती है, जैनदर्शनकी यह मौलिक बात नहीं है। यदि कहा जाय कि "द्रव्यकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायमें कारण हुआ करती है और दर्शनोपयोग अल्पज्ञजोवकी पूर्वपर्याय ज्ञानोपयोग उसकी उत्तरपर्याय ही तो है, अतः उक्त कार्यकारणभावमें कोई विरोध नहीं है", तो ऐसा माननेपर यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि सर्वज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप स्वीकार करना चाहिये। यदि सर्वज्ञकी सर्वज्ञताकी समाप्तिके भयसे उसके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप नहीं स्वीकार करके दोनोंकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति स्वीकार कर ली जाती है तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें क्रमसे पूर्वपर्यायिता और उत्तरपर्यायिताका अभाव निश्चित हो जानेकी वजहसे अल्पज्ञके दर्शनोपयोगको उसकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय कैसे कहा जा सकता है ?

वास्तवमें जीवकी देखने और जानने रूप दो पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं। यही सबब है कि दोनों शक्तियोंको ढकनेवाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक्-पृथक् कर्मजैन कर्मसिद्धान्तमें स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं दोनों शक्तियोंके पुथक्-पृथक् विकास ही दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके नामसे पुकारे जाते हैं, इसलिये दर्शनोपयोगको जीवकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय मानना अयुक्त है। यदि ये दोनों एक ही शक्तिके दो विकास होते, तो इन्हें अवश्य ही पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायके रूपमें स्वीकार किया जा सकता था परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे न तो ये एक ही शक्तिके दो विकास सिद्ध होते हैं और न इन्हें एक ही शक्तिके दो विकासके रूपमें स्वीकार ही किया गया है इसलिये जब दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें कार्य-कारणभाव मान्य है तो सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोंमें भी इनका एक ही साथ सद्भाव रहना उपयुक्त है ?

शंका—सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञान सर्वथा निरावरण हो जानेकी वजहसे अपने आपमें परिपूर्ण और परावलंबनसे रहित हैं अतः दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोंके एक साथ होने या रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु अल्पज्ञके दर्शन और ज्ञान जब अपने आपमें पूर्णतारहित एवं यथायोग्य समान परावलम्बी पाये जाते हैं तो उनका एक साथ पैदा होना या रहना कैसे संभव हो सकता है ? अतः सर्वज्ञके एक साथ दोनों उपयोगोंका सद्भाव मानना और अल्पज्ञके दोनोंका एक साथ अभाव स्वीकार करना अयुक्त नहीं है ?

समाधान—यदि जीवमें दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता है तो अल्पज्ञता उसमें बाधक नहीं हो सकती है और यदि जीवमें दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता नहीं है तो सर्वज्ञता उसमें साधक नहीं हो सकती है। जैसे एक ही दर्शनशक्ति या ज्ञानशक्तिके विकास स्वरूप दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता जीवमें नहीं है तो इस प्रकारके दो उपयोग एक साथ सर्वज्ञमें भी संभव नहीं हो सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सर्वज्ञके भी प्रतिक्षण जो संपूर्ण पदार्थोंका दर्शन और ज्ञान होता रहता है वह दर्शन और ज्ञान अनन्त पदार्थोंका होते हुए भी पृथक्-पृथक् अनन्त उपयोग रूप नहीं होता, अपितु अनन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला एक ही दर्शनरूप उपयोग और एक ही ज्ञानरूप उपयोग होता है। इसी प्रकार जीवकी एक ही श्रद्धाशक्ति, एक ही चारित्रशक्ति, एक ही सुखशक्ति, एक ही वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोंका पृथक्-पृथक् दो तरहका विकास सर्वज्ञके भी एक साथ संभव नहीं हैं। परन्तु जीवमें अनन्त प्रकारकी उक्त जितनी शक्तियाँ पायी जाती हैं वे सब अपने-अपने पृथक्-पृथक् एक-एक विकसित रूपमें सर्वज्ञ और अल्पज्ञ सब अवस्थाओंमें एक साथ पायी जाती हैं और पायी जाना उचित भी है क्योंकि जो भी शक्ति अपने किसी एक विकसित रूपके साथ एक अवस्थामें नहीं पायी जायगी, तो उस शक्तिका जीवकी सब अवस्थाओंमें अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा। इसलिये सर्वज्ञको तरह अल्पज्ञ जीवमें जब ज्ञानशक्तिके किसी-न-किसी विकसित रूपके साथ श्रद्धाशक्ति, चारित्रशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोंका अपना अपना कोई-न-कोई विकसित रूप सर्वदा विद्यमान रहता ही है, तो इन सबके साथ दर्शनशक्तिका भी कोई-न-कोई विकसित रूप उसमें अवश्य ही सर्वदा विद्यमान रहना चाहिये। जीवकी प्रत्येक शक्तिका इस प्रकार अपने अपने किसी-न-किसी विकसित रूपमें रहने का नाम ही उपयोग है। यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार सर्वज्ञके केवलज्ञान-में केवलदर्शन कारण हुआ करता है उसी प्रकार अल्पज्ञके अवधिज्ञानमें अवधिदर्शनको तथा उस उस इन्द्रियसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होनेवाले मतिज्ञानमें उस उस इन्द्रियसे होनेवाले दर्शनको ही कारण माना गया है। यदि भिन्न समयका दर्शन भिन्न समयके ज्ञानमें कारण माना जाता है तो "अमुक प्रकारके ज्ञानमें अमुक प्रकारका दर्शन ही कारण होता है" इस प्रकारका प्रतिनियत कार्यकारणभाव अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें नहीं बन सकता है, क्योंकि फिर तो अवधिदर्शनके बाद भी मतिज्ञान हो जाना चाहिए और चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शनके बाद भी अवधिज्ञान हो जाना चाहिए। लेकिन जब ऐसा अप्रतिनियत कार्यकारणभाव न तो संभव है और न माना ही गया है तो इसका आशय यही है कि अल्पज्ञजीवके भी दर्शनके सद्भावमें ही ज्ञान हुआ करता है, दर्शनके अनन्तर उसके अभावमें नहीं।

शंका—दर्शनोपयोगको आगममें सामान्यग्रहण, निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक तथा ज्ञानोपयोगको विशेषग्रहण, साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है, अतः परस्पर विरोधपना होनेकी वजहसे दर्शन और ज्ञानका एक कालमें सद्भाव मानना अयुक्त है?

समाधान—उक्त प्रकारका विरोधीपना जब सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञानके अन्दर भी विद्यमान है और फिर भी उसके दर्शन और ज्ञान साथ-साथ एक ही कालमें उत्पन्न होते और अवस्थित रहते हैं तो इसका आशय यही है कि दर्शन और ज्ञानका उक्त प्रकारका विरोधीपना उनके एक कालमें एकसाथ उत्पन्न होने या रहनेमें बाधक नहीं होता है। यदि कहा जाय कि वास्तवमें सर्वज्ञके सर्वदा सिर्फ ज्ञानोपयोग ही रहता है—उसके दर्शनका अद्भाव तो केवल उपचार मात्र है तो इस तरहसे फिर जीवमें ज्ञानशक्तिसे पृथक् दर्शननामकी एक शक्ति और उसके आवारक स्वतंत्र दर्शनावरणकर्मको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसलिये दर्शनोपयोगके सामान्यग्रहण आदि और ज्ञानोपयोगके विशेषग्रहण आदि संकेतोंका ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकनेके कारण ही यह भ्रम पैदा हो गया है कि दर्शन और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं। अतः इस भ्रमका निराकरण करनेके लिये यहाँपर उक्त संकेतोंके अर्थपर तथा दर्शनके स्वरूपपर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

वर्तमानमें दर्शनके निम्नलिखित अर्थ प्रचलित हैं—

१. वस्तुविशेषका बोधरहित "है" इत्याकारक मानका नाम दर्शन है।

२. पहले पदार्थसे उपयोग हटनेके बाद जबतक दूसरे पदार्थसे उपयोग नहीं जुड़ जाता, इस अन्तराल में जो केवल आत्मबोध हुआ करता है उसको दर्शन समझना चाहिये।

३. उक्त प्रकारके अन्तरालमें चैतन्यकी जो अनुपयुक्त अवस्था रहती है उसका नाम दर्शन है।

दर्शनके उक्त प्रचलित अर्थोंमेंसे पहले और दूसरे प्रकारके अर्थ इसलिये गलत हैं कि उक्त अर्थोंके स्वीकार करनेसे दर्शन भी ज्ञानकी तरह सविकल्पक, साकार और व्यवसायात्मक हो जायगा। तीसरा अर्थ इसलिये गलत है कि ऐसा कोई क्षण नहीं, जिसमें चैतन्य अनुपयुक्त अवस्थामें रहता हो। साथ ही अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शनोपयोग माननेसे दर्शनकी उपयोगात्मकता समाप्त हो जायगी। तीसरे अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शन और उपयुक्त चैतन्यको ज्ञान स्वीकार कर लेनेसे दर्शनावरणकर्मका पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना असंगत हो जायगा।

मेरे मतसे दर्शनका अर्थ है आत्मप्रदेशोंमें ज्ञेय पदार्थके आकारका आ जाना। इस प्रकार जिस कालमें जिस ज्ञेय पदार्थका आकार आमोद आत्मप्रदेशोंमें आता है उस कालमें उस पदार्थका ही बोध हुआ करता है, सर्वज्ञके दर्शनावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके सबबसे समस्त आत्मप्रदेशोंमें संपूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण स्वभावतः प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। अतः सर्वज्ञको प्रतिक्षण संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता रहता है। लेकिन अल्पज्ञके आत्म-प्रदेशोंमें ज्ञेय पदार्थका प्रतिबिम्बित होना निमित्ताधीन है अर्थात् प्रतिनियत पदार्थोंका प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें जब-जब आकार आता है तब-तब उस-उस इंद्रिय द्वारा उन-उन पदार्थोंका मतिज्ञान हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है और तब दर्शनको भी उस-उस इन्द्रियका दर्शन कहा जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है, अतः उसके लिये दर्शनके सद्भावकी आवश्यकता नहीं रहती है। अवधिज्ञानमें दर्शनकी आवश्यकता रहती है अर्थात् प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें प्रतिनियत पदार्थोंका बिना इन्द्रियोंकी सहायताके जो प्रतिबिम्ब आता है उसके सद्भावमें अवधिज्ञान हुआ करता है ऐसे प्रतिबिम्बको अवधिदर्शन कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक हुआ करता है, अतः ईहामतिज्ञानमें जिस दर्शनकी अपेक्षा रहती है वही दर्शन मनःपर्ययज्ञानके समय विद्यमान रहता है।

इस विवेचनका निष्कर्ष यह है कि—

१. एक पदार्थ या नाना अथवा संपूर्ण पदार्थोंका आत्मप्रदेशोंमें इन्द्रिय आदि निमित्तसापेक्ष अथवा निमित्तकी अपेक्षारहित प्रतिबिम्बित होना ही दर्शन कहलाता है।

२. इस प्रकारके दर्शनके सद्भावमें ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनों तरहके जीवोंको पदार्थज्ञान हुआ करता है अन्यथा नहीं।

३. प्रतिनियत दर्शन ही प्रतिनियत पदार्थज्ञानमें कारण हुआ करता है। उक्त दर्शन सामान्यग्रहणरूप है क्योंकि उसमें ज्ञानकी तरह प्रमाणता और अप्रमाणताका विशेष (भेद) नहीं पाया जाता है और इसका कारण हम पहले बतला आये हैं कि दर्शनमें स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है जबकि स्वपर-व्यवसायात्मकता प्रमाणताका तथा स्वव्यवसायात्मकताके रहते हुए परव्यवसायात्मकताका अभाव अप्रमाणताका चिह्न माना जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शनमें पदार्थका अवलम्बन होनेकी वजहसे वह पदार्थग्रहणरूप तो होता है फिर भी वह द्रष्टाको अपना संवेदन करानेमें असमर्थ रहता है और जो अपना संवेदन नहीं करा सकता है वह परका संवेदन कैसे करा सकता है? इसलिये दर्शनको "सामान्यग्रहण" शब्दसे पुकारना उपयुक्त ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या चाहे अप्रमाण हो—उसमें स्वसंवेदकता तो हर हालतमें रहती ही है अतः उसे (ज्ञानको) "विशेषग्रहण" शब्दसे पुकारा जाता है। उक्त दर्शनको निराकार भी कहते हैं क्योंकि उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोंका अभाव होनेके कारण न तो प्रमाणताका आकार पाया जाता है और न अप्रमाणताका ही आकार पाया जाता है। इसी प्रकार उक्त दर्शनको अव्यवसायात्मक भी कहते हैं क्योंकि हम बतला चुके हैं कि उसमें स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोंका अभाव रहता है जबकि प्रमाण-ज्ञानमें स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोंका सद्भाव और अप्रमाणज्ञानमें परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी कम-से-कम स्वसंवेदकताका सद्भाव पाया जाता है। इस प्रकार जो अव्यवसायात्मक होता है वह सविकल्पक नहीं हो सकता है इसलिये दर्शनको "निर्विकल्पक" शब्दसे भी पुकारा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घड़ेको विषय करनेवाले प्रमाणज्ञानमें "मैं घड़ेको जानता हूँ" ऐसा विकल्प और उक्त ज्ञानके विषयभूत घड़ेमें "यह घड़ा है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है तथा अप्रमाणज्ञानके भेद संशय, विपरीत और अनध्य-वसाय इन तीनोंमें क्रमसे "सीप है या चाँदी" या सीपमें "यह चाँदी है" अथवा "कुछ है" इस प्रकार वस्तुकी अनिर्णीत अवस्थाका रूप ज्ञानविकल्प और विषयविकल्प ज्ञाताको होते रहते हैं उस प्रकार घड़ा आदि पदार्थोंके उक्त प्रकारके दर्शनमें "मैं घड़ेका दर्शन कर रहा हूँ" या "यह घड़ा है" आदि विकल्पोंका होना संभव नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे दर्शनमें स्वव्यसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनोंका अभाव विद्यमान रहता है। अतः दर्शनको निर्विकल्पक कहा गया है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञानमें सामान्य और विशेष, निराकार और साकार, अव्यवसायात्मक और व्यवसायात्मक तथा निर्विकल्पक और सविकल्पकका भेद रहते हुए भी इन दोनोंका एक कालमें एक साथ सद्भाव पाया जाना असंभव नहीं ठहरता है।

आशा है दर्शनोपयोगके बारेमें मैंने यहाँपर जो विचार उपस्थित किये हैं उनपर विद्वज्जनोंका अवश्य ही ध्यान जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org